

जैन दर्शन में शिक्षा की संकल्पना

डॉ० अनिल कुमार

विभागाध्यक्ष, शिक्षा विभाग, आर.एस.एम. (पी.जी.) कॉलेज, धामपुर, (बिजनौर) उ.प्र.

सारांश

जैन दर्शन का प्रादुर्भाव अति प्राचीन है। वेद और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के विरुद्ध तथा कर्मकाण्डों के विरुद्ध सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप इसका विकास हुआ। ब्राह्मण व्यवस्था से असंतोष के कारण आसानी से इस धर्म को लोगों ने स्वीकार कर लिया। जैन धर्म में चौबीस तीर्थकरों के द्वारा समय-समय पर जो त्याग तपस्या की बातें की गईं उन्होंने तत्कालीन समाज को ज्यादा प्रभावित किया। जैन दर्शन ने वैभव साम्राज्य को त्यागकर सुख की तलाश में भिक्षुक जीवन धारण कर विश्व शान्ति का उपदेश दिया और हिंसाग्रस्त समाज को बताया कि जीवन क्या है। परोपकार की भावना से मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। ऊँच-नीच की जो भावना समाज में व्याप्त थी उसका विरोध किया गया तथा जैन शिक्षा दर्शन द्वारा संसार को मुक्ति के मार्ग का उपदेश दिया गया।

मुख्य शब्द – धर्म, भिक्षुक, निर्वाण, मुक्ति, तपस्या

प्रस्तावना

जैन दर्शन के तत्व, तर्क, ज्ञान एवं आचार मीमांसा का सम्यक् प्रयोग हुआ। इसी को आधार बनाकर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया गया। भगवान महावीर स्वामी के ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में बिना अहिंसा के लोगों का कल्याण नहीं हो सकता है। जैन धर्म की परम्परा में कठोर नियम बनाये गये। यह धर्म दर्शन अति प्राचीन है जितना कि वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह हैं। अन्तिम मनु नाभिराम थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव ने लिपि का आविष्कार किया तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन जातियों की रचना की। भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। जब ऋषभदेव वैराग्य लेकर संसार से अलग हो गये, तब उनके पुत्र भरत ने ही, 'तीन वर्णों' में से व्रत और चरित्र धारण करने वाले सुशील व्यक्तियों को ब्राह्मण बनाया। विद्वानों का यहाँ तक मत है कि मोहनजोदड़ो में पाये गये निशान जैन धर्म के ही हैं।

जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषताएँ अहिंसा और तप हैं। इसलिए यह अनुमान तर्क सम्मत लगता है कि अहिंसा और तप की परम्परा प्राग्वैदिक थी और उसी का विकास जैन धर्म में हुआ। चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर वर्धमान ई० पू० छठी शताब्दी में हुए उन्होंने जैन दर्शन शिक्षा का जोरदार संगठन किया। जबकि उनके पूर्व तेईस तीर्थकर और हुए थे। तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ थे, जो ऐतिहासिक पुरुष हैं जिनका समय महावीर और भगवान बुद्ध दोनों से कोई 250 वर्ष पहले पड़ता है। वैराग्य और तपश्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिषद् जोर देते थे जैन धर्म में उस पर आग्रह है।

जैन दर्शन का अहिंसावाद वेदों से निकला है। ऐसा सोचने का कारण यह है कि ऋषभदेव और अरिष्टनेमि, जैन मार्ग के इन दो प्रवर्तकों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। जैन धर्म के पहले तीर्थकर श्री ऋषभदेव हैं, उनकी कथा विष्णु पुराण और भागवत पुराण में भी आती है, जहाँ उन्हें महायोगी योगेश्वर और योग तथा तप-मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेद-पूर्व परम्परा के प्रतिनिधि थे। जब आर्य इस देश में फैले, उससे पहले ही यहाँ वैराग्य, कृच्छ्र साधना, योगाचार और तपश्चर्या की प्रभा प्रचलित हो चुकी थी। इस

प्रथा का विकास जैन धर्म में हुआ। ऋषभदेव भी योगीराज के रूप में अभिहित हुए, उनके योगीयुक्त व्यक्तित्व से शंकर के योगी रूप का काफी सामीप्य है। मोहनजोदड़ो में योग सूचक जो निशान मिले हैं, उनका सम्बन्ध जैन और शैव दोनों ही परम्पराओं से जोड़ा जा सकता है। ऋषभदेव, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ तथा महावीर वर्धमान, इन सबके प्रति हिन्दुओं में आदर भाव रहा है, क्योंकि स्वयं इन्होंने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह भोग नहीं, त्याग का धर्म था और भारत की त्यागमयी आध्यात्मिक परम्परा को उससे शक्ति प्राप्त हुई।

जैन दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ:- जैन दर्शन सृष्टि को अनादि मानता है। जैनियों का विश्वास है कि सृष्टि की रचना किसी परमात्मा ने नहीं की, वरन् प्रकृति स्वयं प्रकृति के नियमों से संचालित होकर चल रही है। मगर यही सिद्धान्त सांख्य दर्शन का भी है, क्योंकि सृष्टि की रचना किसी ईश्वर ने नहीं की है, इस सिद्धान्त की हंसी सांख्य दर्शन उड़ाता है। योग दर्शन का दूसरा नाम सेश्वर सांख्य भी है, यानी वह सांख्य जो कपिल मुनि के निरीश्वर सांख्य से भिन्न है और ईश्वर में विश्वास करता है। योग दर्शन भी यह नहीं मानता कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है, योग में जो ईश्वर है, वह सृष्टि का रचयिता नहीं, बल्कि योगियों का मानसिक आदर्श है, अर्थात् ईश्वर की कल्पना योग दर्शन ने इस दृष्टि से की है कि मनुष्य योग के द्वारा अपनी इतनी उन्नति करता है कि वह ईश्वर की कोटि में पहुँच जाता है। योगियों का ईश्वर मनुष्य के उच्चतम विकास का प्रतीक है, जिसे पाने की कोशिश करने से मनुष्यता ऊपर उठती है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि जड़ अर्थात् प्रकृति और चेतन अर्थात् जीव के योग से बनी है तथा जिन अणुओं से इसका निर्माण हुआ है- वे अनादि हैं, उन्हें किसी ने भी नहीं बनाया। सृष्टि विकसित नहीं हुई, उसकी रचना की गई है, इस मत का जैन दर्शन भी उतना ही विरोधी है जितना कि कपिल का सांख्य। ईश्वर के सम्बन्ध में जैन दर्शन का जो मत है वह बहुत कुछ योग दर्शन के ही समान है। ईश्वर ने दुनिया नहीं बनायी। ईश्वर एक आदर्श है, जिसे हम साधना से प्राप्त कर सकते हैं। यह बात योग दर्शन और वेदान्त से प्रभावित है। जैन दर्शन के अनुसार भी प्रत्येक आत्मा साधना और तपश्चर्या के द्वारा युक्त बन जाती है और उसे फिर लेना नहीं पड़ता। जिसे वेदान्त मुमुक्षु या जीवन मुक्त कहता है उसे जैन दर्शन में सिंह जीव या अर्हत बताया गया है। नाम से चाहे जो फर्क हो किन्तु मार्ग और लक्ष्य दोनों के एक हैं।

जैन दर्शन के प्रमुख प्रमेय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं। उत्पाद का अभिप्राय यह है कि सृष्टि में जो कुछ है वह पहले से ही उत्पन्न है तथा जो नहीं है, उससे किसी भी तत्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। व्यय का तात्पर्य इस बात से है कि प्रत्येक पदार्थ अपने पूर्व पर्याय को छोड़कर क्षण-क्षण नवीन पर्यायों को धारण कर रहा है और ध्रौव्य यह विश्वास है कि पदार्थों के रूपान्तर की यह प्रक्रिया सनातन है, उसका कभी भी अवरोध या नाश नहीं होता। जगत् का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी, कभी नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार विलक्षण है, कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियम का अपवाद नहीं।

जैन दर्शन यह मानता है कि सृष्टि अनादि है और वह जिन छः तत्त्वों से बनी है, वे तत्त्व भी अनादि हैं। ये छः तत्त्व हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन तत्त्वों में से केवल पुद्गल ही ऐसा होता है, जिसका हम रूप देख सकते हैं अथवा जिसका अनुभव हमें स्पर्श, घ्राण अथवा श्रवण से होता है। पुद्गल को मूर्त द्रव्य भी कहते हैं, बाकी सभी द्रव्य ऐसे होते हैं जो अमूर्त हैं जिनका आकार नहीं है। दूसरी बात यह है कि छः द्रव्यों में केवल जीव ही ऐसा है जिसमें चेतना है, बाकी पाँचों द्रव्य निर्जीव तथा अचेतन हैं। तीसरी बात यह कि संसार में जीव निर्जीव (पुद्गल) के बिना नहीं ठहर सकता। निर्जीव पुद्गल के सहवास से छुटकारा उसे तब मिलता है, जब वह संसार के बन्धनों से छूट जाता है। देखा जाये तो जैन दर्शन के जीव प्रायः वे ही गुण हैं जो मूर्त द्रव्य अर्थात् पुद्गल हैं। वह परमाणुओं के योग से बना हुआ है और यह सारी सृष्टि ही परमाणुओं का समन्वित रूप है। जीव पुद्गल ही मुख्य द्रव्य है, क्योंकि उन्हीं के मिलन से सृष्टि में जीवन देखने में आता है।

जैन दर्शन के छः द्रव्यों में से सिर्फ धर्म और अधर्म ही ऐसे हैं जिनका वैदिक धर्म ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। बाकी जीव पुद्गल, काल और आकाश ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में अन्यत्र भी आये हैं। ये बहुत कुछ पंच तत्त्वों के समान हैं जिनसे वैदिकों के अनुसार सृष्टि की रचना हुई है।

जैन दर्शन के अनुसार हमारे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म कर्म शरीर है। स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी यह कर्म शरीर जीव के साथ रहता है और वही उसे फिर अन्य शरीर धारण करवाता है। जैन दर्शन 'आस्रव' के सिद्धान्त में विश्वास करता है, जिसका अर्थ यह है कि कर्म के संस्कार क्षण-क्षण साबित या प्रभावित हो रहे हैं, जिनका प्रभाव जीव पर प्रति क्षण पड़ रहा है। इस प्रभाव से बचने का उपाय यह है कि मनुष्य चित्तवृत्तियों का निरोध करे, मन को काबू में लाये, योग की समाधि का अवलम्बन हो और तपश्चर्या में लीन रहे।

कैवल्य-साधना के जैनों के यहाँ सात सोपान माने गये हैं। ये सात सोपान-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं। जीव आत्मा है, अजीव वह ठोस द्रव्य है जिसमें आत्मा निवास करती है। जीव और अजीव का मिलान ही संसार है। अतएव मोक्ष साधना का मार्ग यह है कि जीव को अजीव से भिन्न कर दिया जाये अर्थात् मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करे कि वह आत्मा है और शरीर से बिल्कुल भिन्न है। संवर और निर्जरा के द्वारा जिसने अपने को संस्कारों अथवा आस्रवों से मुक्त कर लिया वही मोक्ष प्राप्त करता है।

जैन दर्शन में मोक्ष की साधना केवल संन्यासी कर सकते हैं। इनकी पाँच कोटियाँ हैं, जिनका समन्वित नाम पंच परमेष्ठी है, ये पाँच परमेष्ठी हैं - अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु साधुओं के उपदेश आचार्य और उपाध्याय कहलाते हैं। सिद्ध वह है जिसने शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया और अर्हत तीर्थंकर को कहते हैं। अर्हत तो चौबीस हुए हैं, किन्तु सिद्ध कोई भी जीव हो सकता है। जिसकी वासना छूट गयी हो, जो सुख-दुख से ऊपर उठ गया हो, जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं वह सिद्ध है। सिद्ध की कोटि परमात्मा की कोटि है। भेद यह है कि सामान्य वैदिक दर्शन में परमात्मा एक माना गया है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार जो भी व्यक्ति सिद्ध हो गया है, वह स्वयं परमात्मा है।

जैनों का विश्वास है कि अदृश्य जगत में कहीं कैवल्य लोक है जहाँ सिद्धों की आत्मायें शुद्ध-बुद्ध रूप में विराजा करती हैं। जो आत्मा सिद्ध अथवा मुक्त हो गयी है, वह चार गुणों से युक्त होती है। ये गुण हैं अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। रूप, राग, गंध और वर्ण ये पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल के बन्धन से छूटते ही जीव अनन्त चतुष्टय से मुक्त हो जाता है। जनसाधारण के जीव हिंसा से बचाने के लिए जैन दर्शन में अहिंसा का उपदेश दिया गया, किन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसा कर्म से विरत करने के लिए उसने अनेकान्त का सिद्धान्त निकाला। हमारे देश में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय हुए उनमें से अहिंसावाद को उतना महत्व किसी ने भी नहीं दिया जितना जैन धर्म-दर्शन ने दिया। इस दर्शन की विशेषता यह है कि यह केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है। बौद्धिक अहिंसा ही जैन दर्शन का अनेकान्तवाद है। इस सिद्धान्त का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण. पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को जिस दृष्टिकोण से देखते हैं, वस्तु उतनी ही नहीं, उनमें अनन्त गुण से देखे जाने की क्षमता विद्यमान है। उसका विराट स्वरूप अत्यन्त धर्मात्मक है। दृष्टिकोण के विषय को सहिष्णुतापूर्वक खोजा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना शीघ्र अपनायेगा विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।

जैन दर्शन की शिक्षा पद्धति

जैन शिक्षा पद्धति वैदिक शिक्षा पद्धति से कई बातों में भिन्न है, यद्यपि दोनों का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना रहा है। जैन धर्म में देव शास्त्र और गुरु का समान महत्व था। पाँच परमेष्ठियों में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय

और साधु की गणना की जाती थी। अरहन्त और सिद्ध को परम गुरु माना गया है क्योंकि वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आचार्य उपाध्याय और साधु, गुरुओं के क्रम से तीन स्तर हैं। उपाध्याय का कार्य मुख्य रूप से शिक्षा का बताया गया है। जैन साधु संस्था में आचार्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मुनि संघ का प्रमुख आचार्य ही होता था। पूरा संघ उसके निर्देशों पर चलता था। जैन साधु के आचार के विषयों के अन्तर्गत बताया गया है कि जैन साधु एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहता प्रत्युत विभिन्न नगर, ग्रामों में पद यात्रा करता हुआ तत्वोपदेश देता है तथा अपनी साधना करता है। वर्षाकाल के चार माह एक स्थान पर स्थिर होकर रहता है।

आचरण के इस नियम के कारण जैन शिक्षा के वैसे केन्द्र नहीं बने जिस प्रकार वैदिक ऋषियों के आश्रम या बौद्धों के महाविहार अथवा विश्वविद्यालय होते थे। इसके विपरीत जहाँ साधु संस्था का चातुर्मास होता था, वे अस्थायी रूप से शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। कुछ केन्द्र ऐसे भी थे जहाँ साधु के कतिपय मुनि के बराबर विद्यमान रहते थे। ऐसे केन्द्रों में पाटलिपुत्र, मथुरा, श्रावस्ती, बल्लभी, गिरिनार, श्रवणबेलगोला, खंडगिरि, उदयगिरि, राजगृह, ऐलोरा आदि प्रमुख थे।

प्रत्येक मन्दिर के साथ शस्त्र भंडार और स्वाध्यायशाला तथा गुरु के आवास के लिए कक्ष की व्यवस्था हुआ करती थी। गुरु की उपासना के साथ स्वाध्याय का उल्लेख किया गया है। जैन आचार्य शिष्य से किसी प्रकार की अपेक्षा, आकांक्षा नहीं रखता था।

शिक्षा के माध्यम के विषय में वैदिक और जैन शिक्षा पद्धति में शिक्षा का माध्यम उपदेश था, उसी प्रकार जैन शिक्षा पद्धति भी उपदेशमूलक थी। अन्तर इतना था कि जैन मनीषियों ने लोक भाषा के द्वारा अपने उपदेश दिये। शिक्षा के विषय भी लगभग समान रहे हैं। अर्थात् जिस प्रकार वैदिक युग में सम्पूर्ण जीव और जगत के विषय में जानकारी देना शिक्षा का उद्देश्य रहा है! उसी प्रकार जैन शिक्षा पद्धति भी थी। शिक्षण विधि के विषय में कई बातों में समानता प्राप्त होती है। चूँकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी। इसलिए उसे याद रखने की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता था।

जैन शिक्षा दर्शन के उद्देश्य:- जैन दर्शन की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास माना गया है। समग्र विकास से अभिप्राय उसके अन्तरंग एवं बाह्य सभी गुणों का विकास है। व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को ही जैन दर्शन में मोक्ष कहा गया है। मोक्ष अवस्था को प्राप्त व्यक्तित्व में दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त हो जाते हैं और उनमें किसी भी कारण कमी होने की सम्भावना नहीं रहती।

जैन परम्परा में शिक्षा के उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति, जीवन की चतुर्मुखी वृत्तियाँ, उच्चता, गाम्भीर्य एवं संयम का विकास, आत्मा, जगत और जीवन के सम्बन्धों का परिज्ञान, आचार, दर्शन और विज्ञान के त्रिकोण की उपलब्धि, प्रालुप्त शक्तियों का प्रादुर्भाव, जीवन में आने वाली विपत्तियाँ, कठिनाइयों, प्रतिकूलताओं को निराकुल भाव से सहन करने की क्षमता, विवेक दृष्टि की प्राप्ति, कलात्मक जीवन-यापन करने वाली योग्यता की उपलब्धि, अनेकान्त दृष्टिकोण द्वारा समन्वय की प्राप्ति, शास्त्रों का गहन अध्ययन एवं पाण्डित्य की उपलब्धि, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का पूर्णतया उन्नयन, व्यक्ति विकास के लिए समुचित अवसर की प्राप्ति, सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों के निर्वाह हेतु दायित्व भावना की उत्पत्ति बताया गया है।

जैन शिक्षा के आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की छाप रही है। वे अपना जीवन और शक्ति मानवता को सत्यपथ दिखाने के प्रयत्न में लगा देते थे। दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु, परम गुरु आदि के भेद से गुरु कई प्रकार के होते थे। माता-पिता भी गुरु कहलाते थे।

जैन शिक्षा दर्शन में गुरु-शिष्य सम्बन्ध:- जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत ही मधुर था। गुरु स्वभाव से ही शिष्यों के कल्याण का बराबर ख्याल रखते थे। यद्यपि उसके लिए कभी-कभी शिष्यों के

प्रति कठोर व्यवहार करना पड़ता था। वैसे आचार्य क्रुद्ध हो जाते तो शिष्य अपने प्रेम, सेवा और स्नेह से उन्हें प्रसन्न करता था। हाथ जोड़कर उनका विनय करता था। उन्हें विश्वास दिलाता था कि आगे मैं इस प्रकार का कोई भी अपराध नहीं करूँगा। जैन ग्रन्थकारों ने आचार्य की आज्ञा का पालन करना, डाँट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना, भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना, सूर्योदय के पूर्व उठकर शस्त्राभ्यास और गुरु का अभिवादन करना, रात्रि के तीसरे प्रहर में अल्प निद्रा लेना, कम भोजन करना, विद्यार्थी के आवश्यक नियमों में परिगणित है, योग्य छात्र वही है जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान देता था।

जैन शिक्षा दर्शन में संस्कार:- बहुमूल्य वस्त्राभूषणों एवं विलासमयी प्रवृत्तियों का त्याग भी शिष्य के लिए अनिवार्य था। जिनसेनाचार्य कृत आदिपुराण में श्रावकों की क्रियाओं का वर्णन आया है। मनुस्मृति में जिन्हें संस्कार शब्द द्वारा अभिहित किया गया है उन्हीं को आदिपुराण में क्रिया कहा है। विद्यारम्भ के समय चार संस्कार विधेय माने गये हैं। ये हैं लिपि संस्कार, उपनीति संस्कार, व्रतचर्या संस्कार, दीक्षान्त या समावर्तन संस्कार। जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता तो शिक्षा का प्रारम्भ उपनीति संस्कार के पश्चात् किया जाता था। जैन मनीषी उपनीति संस्कार के पूर्व लिपि संस्कार को स्थान देते थे। जब बालक पाँच वर्ष का हो जाये तब उसका विधिवत् अक्षरारम्भ किया जाता था। अनेक जैनाख्यानों और बौद्धाख्यानों से प्रकट होता है कि साधारण जनता के लिए भी शिक्षा के द्वार खुले रहते थे। जैन और बौद्ध साधु, उपाध्याय या आचार्यों ने लौकिक विभूतियों को तिलांजलि दी और संन्यासी जीवन अपना कर ज्ञान का अर्जन किया और उनको जनसाधारण में वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक होकर उन महामनीषियों की पूजा की और उनके चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इन विद्वान मनीषियों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर अत्यधिक था।

जैन शिक्षा दर्शन में जनशिक्षा:- जैन परम्परा में शिक्षा के स्वरूप का विकास मुख्य रूप से मुनि एवं आर्यिकाओं तक सीमित था पर उन्होंने जनसाधारण की कभी भी उपेक्षा नहीं की। आश्रवलायन- गृहसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों जातियों के समावर्तन संस्कार के लिए विधान दिये गये हैं। ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व का विकास करने का मार्ग सबके लिए खोल दिया गया था। जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था। उत्तसध्ययन में हरिकेश नामक चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया और सभी गुणों से अलंकृत था।

जैन शिक्षा दर्शन में छात्र- जीवन:- जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षोभ, सन, ताड़पत्र आदि के बने वस्त्रों का प्रयोग करते थे। वे चमड़े के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न जड़ित अलंकृत वस्त्र को ग्रहण नहीं करते थे। हट्टे-कट्टे विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुणियाँ चार वस्त्र पहनती थीं। विद्यार्थी का समाज में बहुत सम्मान था, जब कोई विद्याध्ययन समाप्त कर घर आता, तब उसका सार्वजनिक सम्मान किया जाता था। दशपुर के सामदेव ब्राह्मण का लड़का रक्षित जब पाटलिपुत्र से चौदह विद्याएँ सीखकर लौटा तो नगर ध्वजा-पताकाओं से सज्जित किया गया। राजा स्वयं स्वागत करने के लिए सामने गया। उसने रक्षित का सत्कार किया और उसे उच्च जीविका प्रदान की। नगर के लोग ऐसे विद्यार्थियों का अभिनन्दन करते थे। कभी-कभी उपाध्याय अपने सुयोग्य शिष्य की योग्यता देखकर अपनी पुत्री का विवाह भी कर देते थे। विद्वता मनुष्य के लिए जीवनपर्यन्त प्रतिष्ठाजनक होती है और दूध जिस प्रकार पौष्टिक होने के साथ-साथ औषधि रूप भी है, उसी प्रकार विद्वता भी लौकिक प्रयोजन साधक होती हुई मोक्ष का कारण बनती है। वर्तमान समय में शिक्षा के क्षेत्र में जैन शिक्षा की प्रासंगिकता असंदिग्ध प्रतीत हो रही है। आज वर्तमान समय में इतनी प्राचीन जैन शिक्षा होते हुए भी मानसिकता में कोई महत्वपूर्ण बदलाव लोगों में नहीं आ रहा है। आंशिक सुधारों के बावजूद सब मिलाकर भारतीय शिक्षा प्रणाली असृजनात्मक है। वर्तमान शिक्षा न तो वैयक्तिकता को कार्य करने का उपयुक्त अवसर देने में सक्षम है और न ही एक मानवीय सामाजिक ढाँचा तैयार करने में सहायता कर पा रही है। इस प्रकार शिक्षा अपने गरिमापूर्ण विगत को देखते हुए काफी चिन्ता का विषय बन रही है, शिक्षा के ऐसे ढाँचे की रूपरेखा तैयार करने में जो इन पर आभासी विरोधी

दावों में सामंजस्य स्थापित कर सकें। पुराने और नये को जोड़ना होगा, ताकि बिना आध्यात्मिक मूल्यों को खोये जीवन के भौतिक स्तर को उन्नत कर सके।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक छात्र का एक अद्वितीय व्यक्तित्व है, उसका अपना शरीर, अपनी स्वतन्त्र आत्मा है, वह स्वयं भी अपने कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता होता है। अतः अध्यापकों के लिए यह अपेक्षित है कि अध्यापन करते समय यह ध्यान रखे कि बच्चों की इस स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न हो और पाठ्य सामग्री का चयन इस प्रकार करे कि बच्चे में स्वयं निर्णय लेने की स्वतन्त्रता का विकास हो तथा उनके अपने द्वारा किये गये कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो। कर्म स्वतन्त्रता के अन्तर्गत आने वाले ये वैयक्तिक मूल्य यदि ठीक प्रकार से विकसित हो जायें तो बच्चों में स्वतः ही नैतिक मूल्यों का विकास होता चला जायेगा।

निष्कर्ष

वास्तव में, भारतीय दार्शनिक चिन्तन का उद्गम एक प्रकार की आत्मिक अशान्ति से होता है। संसार में व्याप्त दुःख तथा पाप भारतीय दार्शनिकों को अशान्त कर देते हैं और उनके मूल कारणों की खोज में निकल पड़ते हैं। दुःखों से मुक्ति के अपने प्रयास में मानव जीवन के प्रयोजन, सृष्टि के स्वरूप आदि सूक्ष्म विषयों का चिन्तन करते हैं। सबसे बड़ा दुःख मृत्यु की कल्पना है। निसन्देह मृत्यु एक ऐसा सत्य है जिसे कोई भी नकार अथवा झुठला नहीं सकता। परन्तु यह हमारे जीवन में हमारी अज्ञानता, अहम् तथा राग व द्वेष आदि 'क्लेशों' का रूप धारण करता है, भारतीय चिन्तकों का उद्देश्य वास्तव में उस मार्ग की तलाश है जिससे शान्ति व अमरत्व की प्राप्ति हो, इस प्रकार सभी भारतीय चिन्तकों का चाहे वे आस्तिक हों अथवा नास्तिक, एकमात्र उद्देश्य है 'मुक्ति' अर्थात् दुःखों से मुक्ति, उन बन्धनों से मुक्ति जो आत्मा के असली स्वरूप से व्यक्ति को परिचित नहीं होने देता। जैन शिक्षा दर्शन के अनुसार ज्ञान इन्द्रियों और ध्यान के माध्यम से माना गया है और शिक्षण को इन संकायों को विकसित करना चाहिए। जैन दर्शन में जीव को अनिवार्य रूप से कर्मशील मानकर शिक्षा को क्रिया आधारित एवं आदर्श उन्मुख माना गया है।

अतएव स्पष्ट है कि जैन दर्शन में त्याग, करुणा, अहिंसा, सदाचार और मानव मूल्यों की दृष्टि से अति समृद्ध दर्शन है जिसके अनुसार शिक्षा केवल ज्ञानार्जन ही नहीं अपितु व्यक्ति के जीवन से गहन रूप से सम्बन्धित है जो व्यक्ति को सच्चरित्र की ओर प्रेरित करता है।

सन्दर्भ सूची:-

1. सैयदैन, के .जी: भारतीय शैक्षणिक विचार धारा, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1971
2. ओड, के. लक्ष्मी: शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर. 1994. 4वां संस्करण
3. लाल, रमन बिहारी: शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ, 2000. 9वां संस्करण
4. राजपूत, जे.एस: पाठ्यक्रम परिवर्तन के आयाम , एन.सी.ई.आर.टी, नई दिल्ली 2002
5. लाल , रमन बिहारी. पलोड, सुनीता: शैक्षिक चिंतन एवं प्रयोग, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2008
6. मिश्र, संत कुमार: भारत में शिक्षा व्यवस्था, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2012.

7. पाण्डेय, रामशक्ल: उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2012. 6वां संस्करण
8. लाल, रमन बिहारी, शर्मा, कृष्ण कान्त: भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2013.
9. पचोरी, गिरीश: समकालीन भारत और शिक्षा, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2015
10. शिक्षा मंत्रालय: राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020, भारत सरकार